# भारतीय साधना पद्धति में तन्त्र योग की भूमिका

डॉ. योगेश कुमार जैन

तन्त्र साधना का आयाम बहुत विस्तृत और बहुमुखी है। तन्त्र की साधना विशिष्ट प्रक्रिया और साधना-पद्धति के लिए विख्यात है तथा वह जीवन के तमाम संतुलन के साथ मनुष्य को उसके चरम आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। तन्त्र एक दर्शन भी है और एकशास्त्र भी। अपनी ग्रहणशीलता और विस्तार के कारण इस विधा ने विविध प्रवृत्ति के मनुष्यों के लिए साधना का द्वार उद्घाटित है और आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में स्त्री-पुरूष तथा वर्ण-जाति के भेद को मिटाया है। प्रक्रिया की विशिष्टता, उपाय-कौशल और दार्शनिक उदारता इसे व्यापक परिवेश और विस्तृत पृष्ठभूमि प्रदान करती है। इसमें समाहित करने की क्षमता भी अद्भुत रूप से देखी जाती है। उस समता से उपलब्ध व्यापकता के कारण ही कुलार्णव तन्त्र पूरे विश्वास के साथ यह घोषित करने में समर्थ हो सका :-

**प्रविशन्ति यथा नद्यः समुद्रम् ऋजुवक्रगाः।**
**तयैव समयाः सर्वे प्रविष्टाः कुलमेव हि।।**[1]
**यथा हस्तिपदे लीनं सर्वप्रणिपदं भवेत्।**
**दर्शनानि च सर्वाणि कुल एव तथा प्रिये।।**[2]

अर्थात् जिस तरह सीधे और टेढ़े-मेढ़े रास्ते से सभी नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी तरह विविध धर्म कुल-धर्म में प्रविष्ट हो जाते है। जैसे हाथी के पाँव के चिह्न के भीतर सभी प्रणियों के पाँव के चिह्न आ जाते है वैसे ही सभी दर्शन कुल-मार्ग (कौल दर्शन) के अन्तर्गत आ जाते हैं।

यह कुल-धर्म या कौलमार्ग या कौल दर्शन तन्त्र का एक सम्प्रदाय है। कौल एक आचार भी है। तन्त्र के सात आचारों में एक कौलाचार भी है। कुल शक्ति को कहते हैं, किन्तु गहराई से विचार किया जाए तो कोई भी उपासना अन्ततः शक्ति की ही उपासना होती है। शक्ति और शक्तिमान में भेद न होने के बावजूद शक्ति के कारण ही शक्तिमान

होता है। शक्ति की परिकल्पना समाप्त नहीं की जा सकती क्योंकि तमाम नाम रूप समाप्त कर देने और सभी विशेषणों से मुक्त हो जाने के बाद जब केवल ऐकान्तिक प्रशान्ति, सर्वथा निराकार और चरम शून्यता की और संकेत करते हैं तब भी शाब्दिक माध्यम से कहना पड़ता है कि उस शून्यता में अपारशक्ति है, वही शक्ति केन्द्र है, उसी से यह नाम रूपात्मक सृष्टि प्रसूत होती है।

तन्त्र अपने शाब्दिक अर्थ-ज्ञान का विस्तार और त्रिविध तापों से आयत्त किए हुए अपनी प्रक्रियाओं से जुड़ा है। साधना प्रक्रिया की विशिष्टता और यात्रा-पथ में प्राति की तीव्रता के कारण यह प्रायः सभी सम्प्रदायों से जुड़ा है या विभिन्न सम्प्रदायों ने इसे ग्रहण किया है। इसके मुख्य प्रकार हैं- शाक्त तन्त्र, शैव तन्त्र, वैष्णव तन्त्र, गाणपत्य तन्त्र, सौर तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र। इनके अलावा और भी प्रकार अथवा अवान्तर भेद हो सकते हैं किन्तु यहाँ आवश्यकता नहीं है तथा परस्पर के अन्तर्भाव से काम भी चल सकता है। यद्यपि इन प्रकारों में अपने दार्शनिक और आचारगत कारणों से मालूम पड़ता है किन्तु मूल अवधारणा में और प्रक्रिया की विशेषताओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। इसलिए यह कहना समीचीन होगा कि भारत के प्रायः सभी धर्म इससे प्रभावित हुए और सभी ने इसे अपनी अन्तःसाधना में न्यूनाधिक मात्रा में स्थान दिया। तन्त्र क्रिया प्रधान है, इसका स्वरूप वैज्ञानिक है और यह एक प्रायोगिक ज्ञान है। इसका एक नाम आगम भी है जो अपेक्षाकृत पुरातन नाम है और इसके कुछ ग्रन्थ संहिता नाम से भी उपलब्ध होते हैं।

यथार्थ में तो तन्त्र की यात्रा अरूप की ही है किन्तु यात्रा-पथ रूपात्मक है। रूप का समायोजन इसलिए कि मनुष्य रूपवान् है और भावात्मक भी, इसलिए साधन तथा माध्यम के रूपात्मक होने से उसे थोड़ी सुविधा मिल जाती है। रूप से अरूप की यात्रा होने के बावजूद, साधना-क्रम में दोनों स्वरूप उपलब्ध होते हैं - अरूप में सीधे छलांग लगाने का भी, और रूप के माध्यम से पार उतरने का भी।

तन्त्र और योग का बहुत गहरा सम्बन्ध है, इतना कि कभी-कभी दोनों एकाकार से प्रतीत होते हैं और शायद इसीलिए एक इयत्ता के रूप में- एक विषय के रूप में इसे तन्त्रयोग शब्द से अभिहित करने की एक परिपाटी भी रही। किन्तु विश्लेशणात्मक दृष्टि से पृथक् पहचान अपेक्षित है। वैसे तन्त्र में योग के विविध प्रकार समाहित हैं, कुछ का तो सभारम्भ भी वहीं से है। विचारणीय यह है कि तन्त्र में योग किन अर्थों में और किन रूपों में प्रयुक्त हुआ है? योग का अभिधेय क्या है? यद्यपि योग शब्द भारतीय परम्परा में व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है किन्तु शाब्दबोध की दृष्टि से इसके तीन अर्थ होते हैं। योग शब्द **'युज्'** धातु से बना है, किन्तु 'युज् धातु' धातु-पाठ के तीन गणों में मिलता है, अतः युज धातु एक नहीं, तीन हैं और तीनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि तीनों धातुओं से एक ही शब्द 'योग' बनता है, किन्तु मूल में भिन्नता के कारण योग के अर्थ में भी भिन्नता आ जाती है और उसके तीन अर्थ हो जाते हैं। यह शब्द **'युज् समाधौ धातु दिवादिगण, युजिर्-योगे धातु रूधादिगण और युज् -संयमने धातु चुरादिगण** से पृथक्-पृथक् बनता है। पहले का अर्थ है समाधि, दूसरे का अर्थ है जोड़ और तीसरे का अर्थ है संयमन (समन्वय)।

भारतीय वाड्मय में योग शब्द का प्रयोग तीनों अर्थों में होता रहा हैं। महर्षि पतंजलि ने योग का प्रयोग समाधि-अर्थ में किया है। अतः वहाँ **युज् समाधौ** से बने योग शब्द का प्रयोग है। पतंजलि के योगसूत्र के आरम्भिक तीन सूत्रों को क्रमिक रूप में देखा जाए तो यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। **अथ योगानुशासनम्, योगश्चितवृत्तिनिरोधः और तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।** चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग के परिणत होने पर द्रष्टा की अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठा होती है। असम्प्रज्ञात समाधि ही योग का परिणत रूप है। यहाँ किसी से किसी को मिलना नहीं है अपितु स्वरूप में स्थित होना है तथा जो असम्प्रज्ञात समाधि में अवस्थित होने पर स्वतः घटित हो जाता है। इसलिए यहाँ समाधि से भिन्न किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं है। अथ योगानुशासनम् के व्यास-भाष्य में लिखा है - **योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः**। स्पष्टतः समाधि-अर्थ सुनिश्चित है और ग्राह्य भी, पूरी प्रक्रिया का लक्ष्य भी यही है। किन्तु

न्याय-वैशेषिक दर्शन में जिस योग शब्द का प्रयोग हुआ है वह पतंजलि वाला योग नहीं है, वह **युजिर् योगे** वाला योग है। क्योंकि वहाँ दो का संयोग अपेक्षित है। जिस योग-साधना के द्वारा वहाँ अलौकिक रूप में योगज प्रत्यक्ष होता है उसमें मन और आत्मा का संयोग आवश्यक है। उनके योगी दो प्रकार के होते हैं- युक्त और युंजान । यह युंजान शब्द **युजिर योगे** से ही बन सकता है।

जीवात्मा और परमात्मा को भिन्न मानने वाले जितने भी मतावलम्बी हैं और उनकी जो भी साधना-पद्धतियाँ है वहाँ युजिर्-योगे वाले योग का ही प्रयोग हुआ है क्योंकि वहां जीवात्मा से परमात्मा को मिलाने की प्रक्रिया भी है और लक्ष्य भी। वेदान्त की भक्ति-धारा में जिस योग का प्रयोग होता है वह इसी अर्थ में है। **युज्-संयमने** का अर्थ उपर्युक्त दूसरे अर्थ के समीप जान पड़ता है किन्तु उसमें समन्वय और संयम का भाव छिपा हुआ है। इसका स्पष्ट रूप तन्त्रों में मिलता है। गीता के योग भी प्रायः इसी कोटि के हैं।

तन्त्र में योग और उसकी प्रक्रिया का प्रयोग तीनों अर्थों में उपलब्ध है। चूँकि तन्त्र का वाङ्मय बहुत विशाल है, उसकी धाराएँ भी कई हैं और साधना-प्रक्रिया भी अनेक हैं, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उपाय की बहुलता है इसलिए वहाँ योग शब्द का अर्थ यथास्थान तीनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इन तीनों अर्थों का प्रयोग तन्त्र में दो रूपों में देखा जाता है- तीनों का पृथक् स्वतंत्र अर्थ और तीनों का एक ही प्रक्रिया में क्रमिक विकासात्मक रूप वाला अर्थ भी प्रचलित है। यदि इन तीनों अर्थों की अपनी उपयोगिता पर विचार किया जाए तो उनमें एक क्रमिकता की प्रतीति होती है। योग की कोई भी प्रक्रिया हो, प्रथमतः उसमें किंचित् संयम और समन्वय की आवश्यकता होती ही है। यह उसका प्रथम स्तर या प्रथम सोपान है। दूसरे स्तर पर समीप पहुँचने या संयुक्त होना है, यह दूसरे सोपान की मध्यवर्ती क्रिया है। तीसरे और अन्तिम स्तर पर समाधि है जो योग की परिणति है। यह तीसरे सोपान पर अन्तिम घटना है। योग की यही क्रमिकता है। किन्तु आचार्यों ने लक्ष्य को दृष्टिपथ में रखकर अथवा प्रक्रिया के प्रधान हिस्से को विशेष महत्त्व देकर उसके अनुरूप प्रायः किसी एक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है, शेष दो अर्थों की भूमिका या तो आनुशांगिक बन गई है या गौण रूप से स्वतः संयुक्त मान ली गई है। क्रमिकता और स्वतंत्र अर्थवत्ता का यही स्वरूप भी है और यही कारण भी।

तन्त्र में योग की अनेक प्रक्रियाएँ हैं और योग नाम से स्वतंत्र रूप से भी कई योग हैं। यद्यपि वे सभी तन्त्र की मूल अवधारणा से जुड़े है तथापि उनमें से अधिकांश में यह क्रमिकता देखी जाती है और कुछ में स्वतंत्र अर्थवत्ता की प्रधानता भी है। तन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण आचार है समयाचार जिसमें सारी क्रिया ही यौगिक हो जाती हैं, अन्य आचारों में बाह्यार्चन के जितने भी विधान हैं उसमें सब कुछ आन्तरिक हो जाता है। यद्यपि सारी क्रियाएँ वही होती हैं किन्तु उसमें न तो किसी बाह्य पदार्थ की आवश्यकता होती है और न किसी बाह्य विधान की। यंत्र का विधान जिसका अन्य आचारों में बाह्यार्चन होता है उसका भी इस क्रम में शरीर के विभिन्न अन्तः स्थानों में बिन्दु, त्रिकोण, षट्कोण, अष्टदल, षोडशदल, भु पुर आदि की कल्पना की जाती है और स्थापन-आवाटन से लेकर आवरणार्चन तक की क्रिया वहीं यथास्थान सम्पादित की जाती है।

तन्त्र साधना के दीक्षाक्रम में एक होती है - योगदीक्षा। योगदीक्षा प्रायः आगे चलकर होती है और उत्कृष्ट भी मानी जाती है तथा जिसमें सारी क्रियाएँ यौगिक हो जाती हैं तथा इसमें बाह्य विधान की कोई आवश्यकता नहीं होती। तन्त्र मे जिन क्रियाओं में बाह्य विधान के निर्देश हैं वहाँ भी कुछ आन्तरिक क्रियाएँ जो पूरी तरह योगपरक हैं, आवश्यक रूप से जुड़ी हैं, जैसे भूतशुद्धि, अन्तर्यजन, पीठन्यास, तत्त्वशोधन आदि। उपरोक्त सिद्धि हेतु यंत्र पर जिस उपास्य की अर्चना करते हैं वह और कोई नहीं अपनी ही शुद्ध आत्मा है जिसे भावना से अर्चन काल तक के लिए वांछित उपास्य के रूप में वहाँ स्थापित करना होता है और अर्चनोपरान्त अपने भीतर पुनः प्रतिष्ठित कर देना होता हैं। मानसिक अर्चन भी उसका एक आवश्यक अंग है। इस तरह बाह्यार्चन में भी यौगिक क्रियाएँ काफी मात्रा में मिली हुई हैं।

तन्त्र में नादयोग, लययोग और मंत्रयोग बहुत प्रसिद्ध हैं। नादयोग में अन्तः आकाश में जो अतिसूक्ष्म और अखण्ड रूप से अनाहत नाद व्याप्त है उसे सुनना होता हैं। प्रारम्भिक अवस्था में सिद्धासन में बैठकर, मूलबन्ध लगाकर, अँगुलियों से नाक, कान और मुँह बंद कर यह अभ्यास करना होता है। विकास-क्रम में भिन्न-भिन्न नाद या ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं- जैसे कभी बादल का नाद, कभी समुद्र का नाद, कभी मृदंग का नाद, कभी वीणा की ध्वनि, कभी भ्रमर की ध्वनि, इसी तरह और अन्य प्रकार का नाद। क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हुए साधक अनाहत तक पहुँच जाता है। नादयोगाभ्यासी को उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाती है, चित्तवृत्तियाँ स्वतः निरूद्ध हो जाती हैं। शीत-उष्ण, हर्ष-शोक से पटे होकर वह आनन्दमय हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उसे समाधि की अवस्था उपलब्ध हो जाती है।

लय-योग एक प्रकार से अजपा योग हैं जिसमें मूलाधार से लेकर सहस्त्रार तक चक्रों का क्रमशः ध्यान करते हुए वहाँ अधिष्ठित शक्ति-रूप देवों को यथानिर्धारित संख्या में **हंसः मंत्र** का भावात्मक संकल्प द्वारा अर्पण किया जाता है। यह संख्या 21600 की होती है जिसमें विभाजक होता है। इतनी संख्या का संकल्प-भाव इसलिए है कि चौबीस घण्टे में मुनष्य इतनी ही बार सांस लेता है। फिर मूलाधार से लेकर सहस्त्रार तक लय की क्रिया होती है अर्थात् मूलाधार स्थित पृथ्वी तत्त्व को स्वाधिष्ठान स्थित जल तत्व में, फिर उसे मणिपुर स्थित अग्नि तत्त्व में, इसी तरह अग्नि को वायु तत्त्व में, वायु को आकाश तत्त्व में, आकाश को मनस् तत्व में और अन्त में सबको निराकार परमात्म तत्त्व में समाहित किया जाता है।

मंत्र-योग तान्त्रिक दृष्टि से एक पूरी योग प्रक्रिया है। वाणी की चार अवस्थाएँ होती हैं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी अर्थात् जब ध्वनि शब्द-रूप ग्रहण कर प्रकट होती है जो हम बोलते-सुनते हैं। वैखरी सर्वथा स्थूल रूप है। मंत्रयोग में वैखरी से मध्यमा में और मध्यमा से पश्यन्ती में यात्रा होती है। परा पूर्णता है जो शाश्वत और व्यापक है। वास्तव में जप मध्यमा भूमि में होता है, फिर उसका भी अतिक्रमण हो जाता है पश्यन्ती भूमि में। **वस्तुतः जप किया नहीं जाता है, जप होता है। जो जप किया जाता है, वह जप होने के लिए पूर्वाभ्यास मात्र है।** यही तंत्र की दृष्टि है। तंत्र में मन्त्र का बहुत महत्व है। बीजाक्षर मंत्रों से लेकर माला मंत्रों तक की उसकी खोज अपने आप में विशिष्ट भी है और वैज्ञानिक भी, यह उसका एक उत्कृष्ट अवदान है। उसकी घोषणा है : **जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्नान्यथा।**

तन्त्र का एक प्रसिद्ध और बहुत महत्त्वपूर्ण योग है **कुण्डलिनी योग**। यह योग तन्त्र की अधिकांश क्रियाओं से जुड़ा है और अनेक ग्रन्थों में इसकी चर्चा भी है, किन्तु स्वतंत्र रूप से पूर्ण योग के रूप में षट्चक्र निरूपण और रूद्रयामल में सांगोपांग इसके स्वरूप और प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। षट्चक्रनिरूपण के आरम्भ में ही कहा गया हैः

**अथ तन्त्रानुसारेण षड्चक्रदिक्रमोद्गतः।**
**उच्यते परमानन्द निर्वाह प्रथांकुरः।।**[3]

मनुष्य के शरीर में वस्तुतः सूक्ष्म शरीर में विभिन्न शक्ति-केन्द्र हैं जिन्हें इस योग की शब्दावली में चक्र कहा जाता है। मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी सुप्तावस्था में रहती है। वह जागती है तभी मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा शुरू होती है। जागने पर सुषुना नाड़ी के पथ से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँचती है जहाँ पर शिव से मिलती है। यह परम ज्ञान और परम आनन्द की अवस्था होती है। कुण्डलिनी मूलशक्ति है और इस जगद् व्यापिनी का प्रतीक रूप प्रत्येक मनुष्य में हैं। उसके सम्बन्ध में कहा गया है :

**कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं**
**वाचं कोमल काव्यरम्यरचनाभेदादिभेदक्रमैः।**
**श्वासोच्छवास विभंजनेन जगतां जीवों यथा धार्यते**
**सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोल्लाम दीप्तावलिः।।**[4]

कुण्डलिनी परा चैतन्य रूपा है। कुण्डलिनी के सहस्त्रार में पहुँचकर शिव से मिलने का मतलब है समाधि में पहुँचना, मोक्ष-धाम में पहुँचना। इसे इस तरह कहा गया है:

**नीत्वा तां कुलकुण्डली जीवेन सार्धं सुधीः**
**मोक्षे धामिनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनि।**
**ध्यायेदिष्टफलप्रदां भगवतीं चैतन्य रूपां परां**
**योगीन्द्रो गुरूपादपद्मयुगलालम्बी समाधौ यतः।।**[5]

इस स्थान को जान लेने पर मनुष्य फिर संसार में बद्ध नहीं होता -

**इदं स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो**
**न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने।**[6]

योग के इस उत्कृष्ट क्रम के सध जाने पर वह परम शन्ति और परम आनन्द को उपलब्ध करता ही है। योगस्थ आत्मा का संसार में आना-जाना भी समाप्त हो जाता है। षट्चक्रनिरूपण में उपसंहार इस प्रकार किया गया है:

**ज्ञात्वैतत्क्रममुत्तमं योगीयमाद्यैर्युतः**
**श्रीदीक्षागुरुपादपद्मयुगलामोदप्रवाहोदयात्।**
**संसारे न हि जन्यते न हि कदा संक्षीयते संक्षये**
**नित्यानन्द परं पराप्रमुदितः शान्तः सतामग्रणीः।।**[7]

शंकराचार्य ने कुण्डलिनी योग की अपनी सौन्दर्य-लहरी में बड़े सुन्दर शब्दों में चर्चा की है। मान्यताएँ और तथ्य वही हैं किन्तु यहाँ संकेत भर है, परन्तु विवेचन बहुत सुन्दर काव्य-भाषा में है-

**महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे दुतवहं**
**स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।।**
**मनोऽपि भूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं।**
**सहस्तारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि।।**
**सुधाधारा सारैश्चरण युगलान्तर्विगलितैः**
**प्रपंचं सिंचती पुनरपि रसाम्नाययहसा।**
**अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभगध्युष्टवलयं।**
**स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।।**[8]

इस कुण्डलिनी योग में स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है कि योग के तीनों अर्थों का क्रमिक समाहार है, फिर भी मुख्यता है **युजिर-योगे** की और समन्वय ऐसा कि किसी का महत्त्व कम नहीं हुआ। तन्त्र में कुछ योग-क्रियाएँ और भी उपलब्ध होती हैं, इसके अतिरिक्त कई निष्फल और सकल ध्यान-विधियों भी हैं जिनकी चर्चा करना विस्तार भय के कारण इस आलेख में संभव नहीं। किन्तु आलेख समाप्त करने के पूर्व विज्ञान भैरव की थोड़ी चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है।

विज्ञान भैरव तन्त्र का एक महत्वपूर्ण और पूर्णतः योगपरक ग्रन्थ है। उसमें प्रश्नकर्ता भैरवी हैं और उत्तर देने वाले भैरव हैं। अन्ततः दोनों में अभेद शिव के पर्याय हैं और अन्ततः दोनों में अभेद है। इस माध्यम से परावस्था को कहना है। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न होते हैं। देश-काल जैसे विशेषण से उसे सीमित नहीं किया जा सकता और वैखरी वाणी से उसका वर्णन संभव नहीं। उसका अनुभव हो सकता है।

**अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्त गोचरा।**
**याऽवस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः।।**
**शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः।**
**अतः तद्धर्मधीर्मत्वात् पराशक्तिः परात्मनः।।**[9]

यह पूर्व पीठिका सिर्फ इस बात का प्रमाण है कि किसी बात को कहने की यह तन्त्र की अपनी पद्धति है। इस ग्रन्थ में एक सौ बारह विधियाँ बतलाई गई है और वे बड़ी मूल्यवान हैं। वे सार्वजनीन हैं और प्रक्रिया की जटिलता भी नहीं है। वे धारणा रूप में है तथा जिन पर ध्यान सधते ही समाधि उपलब्ध हो जाती है। इन एक सौ बारह विधियों में से किसी एक से ही यह घटित हो जाता है। संसार में शायद ऐसा कोई भी नहीं हो सकता जिसे उनमें से कोई एक विधि उसके अनुरूप न जान पड़ती हो। इसमें सम्प्रदायगत, धर्मगत या मान्यतागत किसी प्रकार की बाधा नहीं है। निष्कर्ष यह कि तन्त्र के योग प्रत्येक युग में और हर परिस्थिति में बड़े उपयोगी रहे हैं। वर्तमान में उनकी पूरी प्रासंगिकता है। तन्त्र का यह दुर्भाग्य रहा है कि वह गोपनीयता के आवरण से आच्छादित रहा हैं और उसके जानने वालों की संख्या कम रही है।

**संदर्भ सूची –**

1. कुलार्णव तन्त्र, 2/12
2. कुलार्णव तन्त्र, 2/13
3. षट्चक्रनिरूपण, 1/1
4. षट्चक्रनिरूपण, 1/11
5. षट्चक्रनिरूपण 52
6. षट्चक्रनिरूपण 45
7. षट्चक्रनिरूपण 54
8. षंकराचार्य, सौन्दर्यलहरी
9. विज्ञान भैरव, श्लोक 15,18

**सहायक आचार्य**
**जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग**
**जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ-341306**
**राजस्थान**

♦ ♦ ♦

## महत्त्वपूर्ण सूचना

**अलख दृष्टि (त्रैमासिक)** शोध-पत्रिका के पाठकों, ग्राहकों व शुभचिन्तकों को सूचित किया जाता है कि वे अब भारत की ओरियण्टल बैंक ऑफ कॉमर्स की किसी भी शाखा में खाता नं. 10271131001021 तथा IFSC Code No. ORBC 0101027 में शुल्क, अनुदान या विज्ञापन की राशि जमा कर सकते हैं। साथ ही हमारे कार्यालय को सूचित करें कि अमुक राशि किस ब्रांच में जमा की गई है। इसके अतिरिक्त राशि या शुल्क मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट द्वारा भी भेज सकते हैं और आप ई-मेल से शोध-लेख भी भेज सकते हैं। पत्रिका का ई-मेल dr.aptripathi@rediffmail.com है। कृपया सुविधा का पूरा लाभ उठाएँ।

**–व्यवस्थापक**